संपादकीय

सत्यांश

आत्मविमुखता नहीं है आत्मनिर्भरता

आत्मनिर्भर होना, फिर कहलाना अच्छा लगता है, पर आत्मनिर्भरता है क्या? क्या कोई सचमुच आत्मनिर्भर हो सकता है? जो लोग स्वयं को अपने ऊपर निर्भर मानते-कहते हैं और जो आत्मनिर्भर होना चाहते हैं, उनके अपने ऊपर आश्रित होने की बात सीमित व सतही लगती है। दूसरे शब्दों में, संकुचित अर्थ-दायरे में ही स्वनिर्भरता संभव है। जब आत्मनिर्भरता की सीमा अत्यंत संकुचित होगी, तब इसका कोई मतलब नहीं रह जाएगा। पूर्णतः आत्मनिर्भर होना लगभग असंभव है, क्योंकि अपनी इच्छाओं, आवश्यकताओं, कार्यों, विद्या और उन्नति के लिए किसी-न-किसी रूप में दूसरों से मार्गदर्शन, सहायता-सहयोग लेना ही पड़ता है। अपनी जरूरत अपने आप से पूरा करने वाला इस दुनिया में कोई नहीं है।

आत्मनिर्भरता को 'आत्म' से विलग कर अधिकतर आर्थिक स्वनिर्भरता के इर्द-गिर्द देखा जाता है, पर क्या अर्थोपार्जन चाहे नौकरी हो या व्यवसाय - अकेले हो सकता है? क्या व्यक्ति स्वयं अर्थ सृजित कर सकता है? जिस किसी भी स्रोत से धन आता है, उसमें अन्य का जरूरी-गैर-जरूरी योग अवश्य होता है। इस प्रकार आर्थिक रूप से स्वनिर्भरता सफेद झूठ के सिवा कुछ नहीं है। हाँ, पहले किसी प्रकार धन एकत्र कर लिया जाए, अर्थोपार्जन के साधन ईजाद कर लिए जाएँ और फिर आर्थिक रूप से अपने को संप्रभु घोषित किया जाए, तब बात दूसरी होगी, परंतु यह कथित संप्रभुता भी दीर्घायु न होकर क्षणिक ही होगी।

आदमी अंशतः स्वनिर्भर हो सकता है, पूर्णतः नहीं। वह जितना स्वयं पर निर्भर हो पाएगा, जीने के लिए उससे अधिक दूसरों पर निर्भर होगा। वह जितना स्वनिर्भर होगा, उतना ही स्वतंत्र भी महसूस करेगा। स्वनिर्भरता के अभाव में स्वतंत्रता की चाहत संदेहास्पद है। सही मायने में आत्मनिर्भरता अपने आत्म यानी आत्मा की सत्ता का एहसास कर उसकी चेतना के अनुरूप संचालित होने की अवस्था है, जहाँ आत्मज्ञान, स्वविवेक द्वारा व्यक्ति जीवन की दिशा व तरीका उन्नत करता है। वह भौतिक-अभौतिक पदार्थों की कामनाओं के बंधन में नहीं होता, लेकिन स्वछिद्रान्वेषण, आत्मवंचना, आत्मक्षुद्रता, आत्ममुग्धता, उदासीनता, व्यग्रता आदि से बचना पड़ता है। अंगराज के शब्दों में -

कौन भाग्यशाली नर होगा, जग में उससे बढ़के।
परमोन्नति जो करे स्वनिर्मित सोपानों पर चढ़के।।

अकथ-अलेख

जो कुछ कहना है, उसका अधिकांश अलिखित रह गया है। सब कुछ तो कभी न लिखा जा सकता है और न बोला जा सकता है, पर जितना लिख-कह सकता था, उससे बहुत अधिक अमूर्त रूप में बाकी है। यों भी जितना कहा-लिखा जाता है, उतना ही वक्ता-लेखक का कथ्य नहीं होता। एक जानकार आदमी जब कुछ कहता है तो बहुत कुछ छोड़ता भी है, छोड़ना ही पड़ता है। इसलिए उपलब्ध को ही संपूर्ण और अंतिम निर्णायक मान लेने की परिपाटी सदैव ठीक नहीं है। जब संप्रेक्षक का ही यह पूर्ण-चरम नहीं, तब औरों के लिए कैसे आखिरी हो सकता है? परंतु ये सत्यांश सोपान हो सकते हैं। दूसरी ओर, जब सब कुछ कभी नहीं कहा जा सकता, तो फिर सब कुछ कहने-सुनने की अंतहीन प्रतीक्षा क्यों? जो है, उसे ही तत्काल के लिए सर्वस्व क्यों न मान लिया जाए?

दृष्टि-बोध व विचार-दर्शन एक दिशोन्मुखी कहाँ होते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और गहन से गहनतर स्तर पर अणु-परमाणुओं की तरह बहुलता-विविधता अनेक स्तरीय होती है, जो खण्ड-खण्ड दृश्यमान होती हैं और परस्पर-संबद्ध भी। उनमें बहुत सारी अचिन्हित-अचर्चित और उपेक्षित रह जाती हैं, पर इस कारण उनकी वास्तविक उपस्थिति खत्म नहीं हो जाती। कभी यथावत, तो कभी परिवर्तित होकर यह सब चलते रहता है। इस प्रकार सच, यथार्थ और कल्पना के ये अंश तो होते ही हैं। जब कोई बोध प्रकट होता है, तब उसके समानांतर दूसरी-तीसरी और न जाने कितनी परंपराएँ-विचारणाएँ प्रतिद्वन्द्वी रूप में जूझने के लिए खड़ी हो जाती हैं। प्रत्येक अवधारणात्मक वाक्य को कभी प्रतिस्पर्द्धी, तो कभी अपवाद ललकारने लगते हैं। वस्तुनिष्ठता की दृष्टि से इनकी सार्थकता असंदिग्ध है, लेकिन चिंतन-धारा को यह असीमित दिशाओं की अनंत सुरंग यात्राओं में घुसेड़ने वाला भूल-भुलैया भी सिद्ध होता है, जहाँ से आगे-पीछे निकल जाना आसान नहीं होता। इसलिए प्रतियोगियों या अपवादों से विचारों का मल्ल युद्ध कराने की बजाय कटते-छँटते निकलना पड़ा है, कहीं-कहीं टोका-टोकी वाला टकराव भी हुआ है। यदि हर क्षण उलझते जाएँ तो लिखित-कथित रूप में जो ज्ञात हुआ है, वहाँ तक पहुँचना संभव न होता। सदैव प्रतिगामी न भी कहें, तब भी प्रतिस्पर्द्धी भावनाओं-विचारणाओं की अनगिनत व्यावहारिकी एवं दृष्टांत प्रत्यक्ष हैं, जिनकी मौजूदगी का उल्लेख मात्र भी कठिन है।

हरएक धारणा में खोट-पैवंद दिखता है; किंतु इसी पर आगे बढ़ना पड़ता है, क्योंकि किंतु-परंतु करने से ध्येय विचलित होता रहेगा और फिलहाल जो नहीं कहना-करना है, वह कहा-किया जाएगा। ऐसा कहना महत्त्वहीन नहीं होता, फिर भी दर्शनीय यथार्थ प्रारंभिक प्राथमिकता तो होना ही चाहिए। इसलिए प्रत्येक स्तर पर स्वयं के व्यवहार-अनुभव से मिला दृष्टि-बोध विद्यमान है। इस अनुभावक समझ-बोध से परे इस पुस्तक में कुछ भी नहीं है। इसी आलोक में दृष्टि विकसित करने का प्रयास है। जो मूल्यांकित विमर्श प्रकट हुए हैं, उनसे सर्वप्रथम हम स्वयं बँधे हैं। दूसरे रूप में, तदनुरूप आचरण-व्यवहार से बंधित होने के कारण ही ऐसे विचार प्रकट हो पाए हैं। सिर्फ लिखने के लिए कोई अच्छी लग जाने वाली बात नहीं लिखी गई है, बल्कि उसका आत्म-साक्ष्य सदैव साथ है।

पिछले चार-पाँच साल में प्रकाशित लेखों का अद्यतन व संपादित संकलन है यह पुस्तक। निरंतर के जीवन-विषयों से जुड़े लेख नवीन रूप-ढंग वाले कलेवर में नए जैसे भी लगते हैं। जोर देने लायक लगने वाले विचारों का छिटपुट दुहराव भी हो सकता है, लेकिन वहाँ भी प्रसंग-संदर्भ अलग-अलग अवश्य होंगे। वैसे भी सब कुछ परस्पर खंडित- अखंडित हैं, अतः जो खंड निर्धारित किए गए हैं, वे पाठकीय सुविधा भर के लिए हैं। आखिर वैचारिकी साहित्यिकी से और सामयिकी आत्मिकी से कैसे भिन्न हो सकती है। गहरे चिंतनात्मक मंतव्य की बजाय सीधी विचाराभिक्ति ही अधिक है। जो गहरा, निगूढ़ व अदृश्य रहते हुए भी काम का है, महसूस होता है कि वह अभी भी पहुँच से बाहर रह गया है। उसी अकथ-अलेख तक ले जाने में यह 'अकथ-अलेख' पुस्तक उपयोगी भूमिका निभाए - हमारे लिए भी और आपके लिए भी, यही अनिवार्य कामना है। *('अकथ-अलेख' की भूमिका से)*